

## भारतीय राष्ट्रवाद: कुछ ऐतिहासिक संदर्भ



<https://doi.org/10.5281/zenodo.7393817>

देवेन्द्र चौबे

**Devendr Chaubey**

Professor of Jawaharlal Nehru University, India

devendrchaubeyjnu@gmail.com

dkchoubey@mail.jnu.ac.in

### ABSTRACT

आजकल भारत आजादी का अमृत महोत्सव मना रहा हैं। यह देश और भारतीय समाज के लिए एक बड़ा अवसर है, अपने देश को समझने और उसे जानने का। कारण, भारतीय राष्ट्र की पूरी परिकल्पना जिन विचारों पर खड़ी है, उसे निर्मित करने में देश की जनता द्वारा 1764 के बक्सर-युद्ध से 1857 तथा 1857 के संग्राम से 1947 में देश की आजादी तक उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ किए गए संघर्ष की बड़ी भूमिका रही है; खासकर 1857 से 1947 के बीच। आजादी के अमृत महोत्सव के बहाने इतिहास, लोक स्मृतियों एवं साहित्यिक पाठों में मौजूद स्वाधीनता आंदोलन के उन संदर्भों को समझना एक महत्वपूर्ण कार्य होगा, जिनसे भारतीय राष्ट्रवाद का ढांचा खड़ा होता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि 1857 से 1947 के बीच साहित्य में मौजूद स्रोत भारतीय राष्ट्रवाद के स्वरूप में आए परिवर्तनों को समझने में मदद करते हैं।]

भारतीय इतिहास में 1857 से 1947 के बीच हुए स्वाधीनता आंदोलन का महत्वपूर्ण स्थान है। यह आंदोलन सिर्फ भारतीय जनता द्वारा किए गए संघर्ष का प्रतीक ही नहीं है; बल्कि, यह 1857 की क्रांति और उसके बाद के संघर्ष में भारतीय जनता की साझी हिस्सेदारी और देश के लिए कुछ कर गुजरनेवाली चेतना का कभी न समाप्त होनेवाला एक जीवंत राष्ट्रवादी अध्याय भी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत की पूरी परिकल्पना विकसित करने में इस दौर की एक बड़ी भूमिका रही है; चाहे वह साहित्य हो या इतिहास, भारत की राजनीति हो या भूगोल। स्वाधीनता आंदोलन के इस संघर्ष ने यह भी

बताया कि आनेवाले दिनों में एशिया महादेश का यह भारतीय राष्ट्र कैसा होगा? उसका समाज कैसा होगा? स्वाधीनता के बाद की वैश्विक राजनीति की धारा क्या होगी और किन संदर्भों को लेकर यह राष्ट्र पूरी दुनिया के सामने खड़ा होगा। उसके खड़ा होने का आधार या विचार या प्रकृति क्या होगी? वह दूसरे राष्ट्र की भावनाओं और आत्मसम्मान को महत्व देगा या अन्य राष्ट्रों की तरह अपनी विस्तारवादी आर्थिक एवं राजनीतिक नीतियों को वृहत्तर रूप से विकसित करेगा? ये कुछ ऐसे संदर्भ हैं जो आजादी के अमृत महोत्सव के अवसर पर भारतीय राष्ट्र को लेकर एक बार पुनर्विचार करने कि मांग करते हैं।

दरअसल, किसी भी राष्ट्र और उसके वर्तमान संदर्भों को समझने के लिए इतिहास के साथ ही लोक एवं ग्रामीण क्षेत्रों में मौजूद उन स्रोतों को भी खंगालने की जरूरत पड़ती है, जिन्हें कई बार इतिहासकार और अध्येता अमहत्वपूर्ण मानकर छोड़ देते हैं। आखिर, ये संदर्भ और स्रोत क्या है, जो भारतीय राष्ट्र की निर्मितियों को समझने में मदद करते हैं? इन्हें समझने का समय और इतिहास क्या होगा? विचारधारा क्या होगी? सिद्धांत क्या होगा? आदि-आदि ये कुछ ऐसे सवाल हैं जो इतिहास के अध्येताओं को हमेशा परेशान करते हैं। प्रसिद्ध विचारक जॉन प्लामेंटाज़ ने राष्ट्रवाद पर विचार करते हुए यह समझने कि कोशिश की है कि आखिर अपने मूल चरित्र में राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद अंततः एक सांस्कृतिक संघटना क्यों है और कुछ समय बाद उसका स्वरूप राजनीतिक क्यों हो जाता है? क्या यह उसकी सहज परिणति है या उसकी बनावट ही ऐसी होती है कि वह जाने-अनजाने किसी विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृति के उत्थान के मूल्यांकन में मदद करने लगती है जिसका चरित्र वृहत्तर समाज एवं राष्ट्र की आधारभूत संरचनाओं को प्रभावित करने लगता है। यद्यपि यह एक महत्वपूर्ण बात है कि यूरोप में विकसित राष्ट्रीयता नस्लीय, भाषाई, शासकीय, समंतवादी-पूंजीवादी धारा की तरफ इशारा करती है; वही एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका आदि देशों में उदित राष्ट्रीयता लोक संस्कृति, साहित्य, कला आदि जन मूल्यों के सहारे राष्ट्रीय मुक्ति या राष्ट्रीय उत्थान की धारा का निर्माण। इन सवालों और संदर्भों को लेकर एरिक हॉब्सबाम, बेनेडिक्ट एंडर्सन, रणधीर सिंह, रणजीत गुहा, शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय आदि जैसे इतिहासकार तो चिंतित होते ही हैं; कई बार इस प्रकार के प्रश्न आम जनता को भी मुश्किल में डाल देते हैं कि आखिर इस

प्रकार की दासता से मुक्ति के लिए किये जा रहे राष्ट्रवादी संघर्ष के नतीजे क्या होंगे? भारत में भी 1857 के बाद राष्ट्रवाद की जो धारा निर्मित हुई उसके निर्माण में दासता से मुक्ति की इस चेतना देखा जा सकता है तथा जिसकी अनेक जातिलताएं स्वाधीनता आंदोलन के दौरान दिखलाई देती हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद की निर्मिती, ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष करते हुए भारत के वृहत्तर सामाजिक समूहों की चेतन में मौजूद राष्ट्र-मुक्ति की आकांक्षा लिए निर्मित और विकसित होता है। उदाहरण के लिए, आधुनिक भारत के इतिहास को देखते हुए साफ पता चलता है कि भारतीय राष्ट्रवाद के निर्माण में 1857 का पहला स्वतंत्रता संघर्ष, 1905 में हुआ बंगाल का विभाजन, 1917 में गांधी द्वारा चंपारण के किसानों के लिए किया गया संघर्ष, भगत सिंह एवं सुभाषचंद्र बोस जैसे सेनानियों के समाजवादी-क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ ही 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की बड़ी भूमिका रही हैं तथा इन ऐतिहासिक परिघटनाओं से आधुनिक एवं समकालीन भारत की पहचान बनती है। पर, मूल बात है, दासता से मुक्ति की कामना; जिसे स्वराज से जोड़कर बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, महात्मा गांधी आदि जैसे राष्ट्रवादी नेता अंग्रेज सरकार की दमनकारी नीतियों के खिलाफ खड़े होते हैं और स्वाधीनता आंदोलन के दौरान एक राष्ट्रीय समाज के वैकल्पिक गठन की तरफ संकेत भी करते हैं। गांधी की दृष्टि में ग्रामीण समाज इसका वैकल्पिक आधार था जो स्वाधीनता आंदोलन में उनके साथ हमेशा खड़ा राहत है। यह समाज पूरी तरह से अंग्रेजी राज के खिलाफ है तथा गांधी एवं अन्य राष्ट्रवादी नेताओं के साथ मिलकर एक नए भारत की परिकल्पना को सामने रखता है; जो गांधी के सपनों का भारत भी है और अंबेडकर के वर्ण-जाति से परे हिंदुस्तान भी; भगत सिंह का प्रगतिशील भारत भी है और सुभाषचंद्र बोस का स्वाभिमानी भारत भी। मुख्य बात है, यह राष्ट्रीय समाज देश से प्यार करता है और भारत को गांवों का देश मानता है जहां के लोग अपनी मातृभूमि से प्यार करते हैं। खेत-खलिहान से प्यार करते हैं और जहां सागर की लहरें, बहती हवाएं, नदियों के जल और चहचहाते पक्षी देश का गीत गाते हैं और जिसे शब्द देते हैं, हमारे कवि, लेखक और उनकी साहित्य की दुनिया!

कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास का यह वह समय है जिसमें खंड-खंड में बँटी देशीय चेतना को वृहत्तर भारत से जोड़कर देखने की दृष्टि विकसित होती है, चाहे वह प्रकृति हो या समाज; साहित्य हो या संस्कृति; कला हो या दर्शन; जड़ हो या चेतन; ज्ञान हो या चिंतन। पर, ये संपूर्णता में देश की एक राष्ट्रवादी छवि गढ़ते हैं, तभी तो 1918 के बाद जयशंकर प्रसाद जैसा कवि भरत देश को लेकर यह कह उठते हैं: *अरुण, यह मधुमय देश हमारा।* और फिर देश के वृहत्तर समाज के सामूहिक चेतना में राष्ट्र मुक्ति की जो आकांक्षा है, वह शब्द का रूप लेकर सारे जहाँ में निम्न राष्ट्रीय सौन्दर्य के भावों से भरकर गुंजायमान हो उठती है- *जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।। सरल तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर। छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुमकुम सारा।*

यद्यपि जयशंकर प्रसाद की कविता में निहित ये ध्वनियाँ भारतीय राष्ट्र की उस पारंपरिक राष्ट्रीयता की तरफ संकेत करती है जिसे भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा आदि जैसे लेखक **जातीय साहित्य** (National Literature) से जोड़कर संबोधित करते हैं। पर यह भी सच है कि ये निर्मितियाँ ही भारतीय जनता को ब्रिटिश राज के खिलाफ मानसिक रूप से तैयार करते हुए खड़ा होने के लिए प्रेरित करती है तथा भारतीय समाज में राष्ट्र (वाद) का एक ऐतिहासिक रूप रचती है तथा जिसके लिए देश और देश के लोग ही सबकुछ है।

सवाल है, 1857 से 1947 के बीच निर्मित राष्ट्रवाद के इस रूप को कैसे समझ जाए? इसे गांधी के किसान आंदोलनों से जोड़कर देखा जाए या अंबेडकर के दलित संदर्भों से अथवा भागत सिंह के क्रांतिकारी-समाजवाद से जोड़कर देखा जाए या सुभाष चंद्र बोस के उग्र राष्ट्रवादी रुझान से? यह एक जटिल प्रश्न है, पर जिस तरह हिन्दी के लेखकों में प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी आदि इसे जातीय संदर्भों से जोड़कर देखते हैं तथा बांग्ला के रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे लेखक एक परिकल्पित चेतना के रूप में मानते हैं, वह महत्वपूर्ण है। हाँ, यह जरूर है कि इनमें टैगोर को उस चेतना में भारतीय और एशिया महादेश की सभ्यता और संस्कृतियों का गहरा बोध दिखाई देता है जिसे वे अपने *गोरा* जैसे उपन्यासों और *गीतांजलि* जैसी कृतियों के जरिए समझने की कोशिश करते हैं तो प्रेमचंद को इसमें

ग्रामीण सभ्यता की वे प्रछन्न धाराएं दिखाई देती हैं जिसे वे कृषि संस्कृति से जोड़कर समझने कि कोशिश करते हैं।

पर, यह जरूर है कि 1857 से 1947 के बीच की राष्ट्रवादी निर्मितियों को समझने में लोक स्मृतियाँ और उन स्मृतियों में दर्ज लोक सृजन के विविध पाठ मदद करते हैं। उदाहरण के लिए, राष्ट्रवाद के इस स्वरूप और इसकी ऐतिहासिक चेतना को भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास के निम्न काल-खंड में बांटकर देखने पर भारतीय राष्ट्रवाद की संरचना को समझने में थोड़ी मदद मिलती है। जैसे, एक. 1857 का संघर्ष और उसकी परिणितियाँ; दो. 1873 और भारतीय साहित्य, प्रेस तथा पत्रकारिता; 1885, काँग्रेस का उदय तथा एक नए बौद्धिक वर्ग का उदय; 1905, बंगाल का विभाजन, स्वाधीनता आंदोलन के उभार; 1917, गांधी, अंबेडकर और स्वाधीनता आंदोलन की राष्ट्रीय धारा; 1942, भारत छोड़ो आंदोलन, क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का मुक्ति संदर्भ। इस बीच साहित्य की दुनिया में 1936 एक अलग अर्थ लेकर आता है, जब लखनऊ में प्रसिद्ध लेखक प्रेमचंद की अध्यक्षता में **प्रगतिशील लेखक संघ** के गठन के बाद आर्थिक रूप से उत्पीड़ित एवं सामाजिक रूप से शोषित तबका साहित्य के केंद्र में खड़ा होता है। इसे शोषित और वंचित तबके के राष्ट्रवाद के रूप में देखा जा सकता है, जिसकी तरफ प्रेमचंद 1936 में प्रकाशित उपन्यास *गोदान* में संकेत करते हैं। *गोदान* किसान राष्ट्रवाद का एक बड़ा उदाहरण है जिसमें किसान और मजदूर पात्र होरी और गोबर के बहाने प्रेमचंद ने वंचित एवं शोषित समाज के लिए राष्ट्रवाद के मायने समझने की कोशिश की है। इन संदर्भों और इनपर केंद्रित साहित्यिक पाठों के आधार पर राष्ट्रवाद और समकालीन भारत को समझना एक महत्वपूर्ण कार्य होगा।

### 1857 का संघर्ष, उसकी परिणितियाँ और उभरते भारतीय राष्ट्रवाद के मायने

भारतीय इतिहास में 1857 का संघर्ष एक बड़ी परिघटना के रूप में दर्ज है। यद्यपि इस संघर्ष में भारतीय सेनानियों कि पराजय हुई, पर इसने यह समझने में मदद की कि भारत की बुनियाद किन वैचारिक और सामाजिक धरातल पर टिकी हुई है। इसने न केवल आधुनिकता का दरवाजा खोला, बल्कि 1857 में देश की जनता और उसमें सभी समुदायों द्वारा उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ किए गए संघर्ष ने सामाजिक विकास की प्रक्रिया

को समझने में भावनात्मक स्तर पर मदद किया तथा 1857 के संघर्ष ने सभी समूहों की भागीदारी ने सांझी संस्कृति की उस विरासत को मजबूत किया जिसपर धर्मनिरपेक्ष भारत की नींव निर्मित हुई तथा जिसे 1947 के बाद पूरी दुनिया ने एशिया महादेश में धर्मनिरपेक्ष भारत की एक नई धमक के रूप में महसूस किया। संभवतः 1857 का संघर्ष नहीं होता तो मध्यकाल में बनी और विकसित हुई सांझी संस्कृति की विरासत को उतनी ताकत नहीं मिलती जिसके कारण बड़ी संख्या में हिन्दू और मुसलमान सहित अन्य समुदायों और समूहों के लोगों ने मिलकर ईस्ट इंडिया कंपनी की दमनकारी नीतियों के खिलाफ संघर्ष किया और जीतते-हारते क्रांति के इतिहास में अपना नाम दर्ज किया। यह देशीय जनता का, एक ताकतवर सत्ता के खिलाफ किया गया बड़ा और भारी संघर्ष था। दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र, कानपुर के नाना साहब, बैरकपुर में मंगल पांडे, जगदीशपुर के कुँवर सिंह, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, लखनऊ की बेगम हज़रत महल, कर्नाटक के हलगली के वेडर, अवध के राजा बेनीमाधव, तब के बंगाल और अब के झारखंड के के सीदो और कान्हू, आंध्र प्रदेश के सुब्बा रेड्डी, पूर्वी भारत की रानी गाइडिल्यू आदि सेनानियों सहित बड़ी संख्या में किसानों और मजदूरों ने ताकतवर ईस्ट इंडिया कम्पनी और अंग्रेज सेना के खिलाफ भारी संघर्ष किया। इस युद्ध ने एक तरफ जहां किसान केंद्रित राष्ट्रवाद की नींव रखी, वही दूसरी तरफ सांझी संस्कृति की एक मिसाल भी कायम की तथा भविष्य के भारत की एक धर्मनिरपेक्ष छवि भी बनाई। इसका असर हुआ और 1857 के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत की शासन व्यवस्था चलाने के लिए 1858 कई ऐक्ट बनाकर जो नीतिगत ढांचा तैयार किया, उसमें धर्म संबंधी निर्देशों के साथ-साथ अनेक नियमों-अधिनियमों की बुनियाद भी पड़ी तथा जिसका प्रभाव आज भी संघीय ढाँचें में देखा जा सकता है जिसके खिलाफ 1890 के बाद; खासकर 1917 के बाद गांधी के साथ जनता ने बड़ा मोर्चा खोला।

### 1873 और भारतीय साहित्य, प्रेस तथा पत्रकारिता

वे नियम-अधिनियाँ क्या थे जिन्होंने 1857, विशेषकर 1873 के बाद के भारत को प्रभावित करना शुरू किया तथा जिसकी अनुगूँज साहित्य और पत्रकारिता की दुनिया में दिखलाई देती है तथा जिसके प्रतिरोध में एक बौद्धिक राष्ट्रवाद की चेतना उत्तर भारत के

हिन्दी और बांग्ला भाषी समाज में दिखलाई देती हैं? उनमें 1858 में निर्मित दो ऐक्ट महत्वपूर्ण हैं: एक प्रेस ऐक्ट और दूसरा आर्म्स ऐक्ट। इन ऐक्ट का ही प्रभाव था कि भारत में 1878 से 1947 तक अनेक रचनाएं, पत्र-पत्रिकाएं और किताबें ब्रिटिश राज द्वारा प्रतिबंधित होती हैं जिनमें बालकृष्ण भट्ट की *हिन्दी प्रदीप*, प्रेमचंद कृत *सोजे वतन*, सखाराम गणेश देउसकर कृत *देशेर कथा* आदि। इन रचनाओं में ब्रिटिश राज के खिलाफ प्रतिरोध की गहरी चेतना देखी जा सकती है। इन पाठों की सबसे बड़ी भूमिका यह थी कि इन्होंने ब्रिटिश राज के खिलाफ आम जनता में असंतोष का भाव पैदा किया। हिन्दी लेखक भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने इसमें बड़ी भूमिका निभाई। यहाँ तक कि इस दौर के एक कवि महेश नारायण की कविता *स्वप्न* इन दोनों ऐक्ट के खिलाफ प्रतिरोध की चेतन विकसित करते हुए राष्ट्रवाद के उसी रूप की तरफ संकेत करती है जिसकी चर्चा जॉन प्लामेंटाज़ करते हैं। महेश नारायण के *स्वप्न* की निम्न पंक्तियों में इस बौद्धिक राष्ट्रवाद की चेतना को महसूस किया जा सकता है: *महादेव यह राज स्वाधीन करते* (स्वप्न, बिहार बंधु, 13 अक्टूबर 1881)

यहाँ महादेव का मिथ ब्रिटिश प्रेस ऐक्ट की धारा से बचने के लिए कवि ने किया है। यह भी महत्वपूर्ण है कि उस दौर के हिन्दी के बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र सहित अनेक लेखकों ने ऐसे मिथ के जरिए **भारतीयता** को समझने की कोशिश की है जिसे कई बार कुछ टिप्पणीकार धर्म विशेष से जोड़कर देखने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि ऐसी निर्मितियों के पीछे ब्रिटिश राज के वे कानून थे जिनसे बचाने के लिए लेखक धार्मिक संकेतों का सहारा ले रहे थे।

### 1885, काँग्रेस का उदय तथा एक नए बौद्धिक वर्ग का उदय

दरअसल, महेश नारायण जैसे कवि या भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र आदि जैसे लेखक भारतीय राष्ट्रवाद की जिस धारा का निर्माण किया, उसका एक कारण 1885 में बनी काँग्रेस के साथ वह अंग्रेजी शिक्षा भी है, जो धीरे-धीरे प्रतिकार स्वरूप भारतीयों के अंदर मातृभूमि और निज भाषा के प्रति एक गहरा लगाव विकसित करती है। काँग्रेस के कारण भारतीय बौद्धिक वर्ग को एक स्पेस भी मिलता है जिसका असर यह होता है कि अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर यह तबका मध्य-वर्ग के रूप में स्वाधीनता आंदोलन में एक बड़ी भूमिका निभाता है जिसकी तरफ अमृतलाल नगर *करवट* और *पीढ़ियाँ* जैसे उपन्यासों में

संकेत करते हैं। इसके साथ ही, सावित्री बाई फुले और जोतिबा बा फुले आदि के कारण महाराष्ट्र में उभरा वह दलित नवजागरण भी है जिसका एक वृहत्तर रूप 1920 के बाद भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक आंदोलनों में अंबेडकर के आने के बाद दिखलाई पड़ता है। 1890 के आसपास हिन्दी में दलित और स्त्री सवाल पर जिस गंभीरता के साथ हिन्दी लेखक राधामोहन गोकुल कार्य करते हैं, वह महत्वपूर्ण है। 1910 में प्रकाशित उनकी एक रचना *अंग्रेज डाकू* ब्रिटिश राज द्वारा प्रतिबंधित भी होती है। पर, हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनकी किसी रचना का उल्लेख नहीं मिलना, दुर्भाग्यपूर्ण है। हिन्दी के आलोचकों में रामविलास शर्मा और कर्मदु शिशिर उनकी चर्चा करते हैं तथा उसे हिन्दी नवजागरण का एक महत्वपूर्ण अंश मानते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि ये लेखक ब्रिटिश राज की नीतियों को समझते हुए अपनी रचनाओं के माध्यम से जनता के अंदर देश प्रेम की गहरी चेतना का विकास करते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये लेखक बौद्धिक स्तर पर पूरे देश में ब्रिटिश राज के खिलाफ प्रतिरोध की जिस राष्ट्रवादी सामूहिक चेतना का निर्माण करते हैं, उसकी उपस्थिति बाद के भारतीय साहित्य में गहराई के साथ दिखलाई पड़ती है।

### 1905, बंगाल का विभाजन, स्वाधीनता आंदोलन के उभार

इसका एक बाद उदाहरण, 1905 के बंगाल विभाजन के बाद रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं को लिया जा सकता है। टैगोरे *गीतांजलि* सहित अन्य रचनाओं में भारतीय राष्ट्र की जिन छवियों का निर्माण करते हैं, उसका गहरा असर भारत सहित पूरी दुनिया पर पड़ता है। टैगोरे द्वारा *गीतांजलि* में रचित यह गीत उस भारतीय राष्ट्रवाद की तरफ संकेत करता है जिसे किसान केंद्रित एक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहा जा सकता है तथा जिसका विकास 1930 के बाद हिन्दी के प्रेमचंद जैसे लेखकों की रचनाओं में दिखलाई पड़ता है। यह कृषक समाज का जमीन से अलग होने और उसके जाने से विचलित होने का दर्द है जो राष्ट्रवाद के नए रूप से हमारा परिचय करता है। टैगोरे तो जिस मार्मिकता के साथ बंगाल के दुःख को *गीतांजलि* में प्रकट करते हैं, वह बहुत ही मार्मिक है। उसमें बंग-भंग के बाद शोक में डूबा हुआ बंगाल भविष्य के निर्माण की कमाना करते हुए शोक में डूबा हुआ है तथा ब्रिटिश राज द्वारा उसकी छीनी गई समृद्धि को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रार्थना कर रहा है: *बांग्लार माटी, बांग्लार जल, बांग्लार*

वायु, बांग्लार फल/ पुण्य हऊक, पुण्य हऊक, पुण्य हऊक, हे भगवान !/ बांग्लार घर, बांग्लार हाट, बांग्लार वन, बांग्लार माठ। पुण्य हऊक, पुण्य हऊक, पुण्य हऊक, हे भगवान !

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का यह वहीं आख्यान है जिसे जन समाज किसान राष्ट्रवाद के साथ रचता है तथा जिसकी पहचान राष्ट्रवादी नेताओं में गांधी सबसे पहले करते हैं। पर उसकी नींव तो 1905 में ही पड़ पड़ गई थी, जब ब्रिटिश राज के खिलाफ बंगाल समेत देश की जनता अपना संघर्ष तेज करती है। इसी का परिणाम है कि बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले आदि जैसे बड़े नेता 1905 के बाद राष्ट्र के प्रति एक नई चेतन लेकर आंदोलन में आते हैं जिसे 1917 में गांधी के आने के बाद काफी बल मिलता है।

### 1917, गांधी, अंबेडकर और स्वाधीनता आंदोलन की राष्ट्रीय धारा

दरअसल, पहले विश्व-युद्ध के बाद, अफ्रीका से लौटते ही गाँधी 1917 में चम्पारण जाते हैं, और वहाँ नील की खेती करनेवाले किसानों से मिलते हैं। उनका चम्पारण के किसानों से मिलाना एक बड़ी राष्ट्रीय परिघटना है। इसके बाद गाँधी पूरे भारत की यात्राएं करते हैं जिसका ग्रामीण समाज पर गहरा असर पड़ता है। वहाँ गाँधी को एक नए भारत का दर्शन होता है, जहाँ की संस्कृति, सभ्यता और आर्थिक स्वावलम्बन के उन्हें अनेक स्रोत दिखलाई पड़ते हैं। गाँधी उससे प्रभावित होते हैं, पर किसानों की दरिद्रता और बेबसी उन्हें आर्थिक राष्ट्रवाद की तरफ मोड़ती है। पर, उन्हें सबसे अधिक प्रभावित तथा विचलित करता है- किसानों के ऊपर चढ़ा कर्ज और लगान; साथ ही, अंग्रेजों द्वारा कराई जा रही अनचाही नील, अफीम, गांजा आदि की खेती और अनेक तरह के आर्थिक संकटों से जूझते ग्रामीण किसानों की बदहाली तथा उनके मरते हुए सपने। गाँधी उनकी बातें बहुत ध्यान से सुनते हैं, उनके करीब जाते हैं, उनके जैसे होने की कोशिश करते हैं और उन्हें उत्प्रेरित करते हैं कि वे भी ब्रिटिश शासन के दमन एवं शोषण का विरोध असहयोग करते हुए करें एवं उनके शोषण तंत्र से बाहर निकले। अहिंसात्मक आन्दोलनों में शरीक हो और भय से मुक्त एक स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण में सहयोगी बनें। खड़ी बोली के एक लोक कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिरोध और निर्माण की इस सक्रिय मनःस्थिति का उत्साहपूर्वक बयान किया है: *साबरमती से चला संत, एक अहिंसाधारी/ जगती*

में सन्नाटा छाया घूमी पृथ्वी सारी/ काँपें कमरिया हाथ में लाठी एक लंगोटीधारी/ ... घर में जा जा अलख जगाया आज़ादी का पाठ पढ़ाया/ खादीधारी हमें बनाया भारत तेरा पुजारी।

भोजपुरी के एक अज्ञात कवि ने भी गांधी का जनता पर पड़े इसी प्रकार के प्रभाव का उल्लेख किया है जिसकी चर्चा बद्रीनारायण, पंकज राग, हितेंद्र पटेल, रश्मि चौधरी, दीपक कुमार राय आदि जैसे नई पीढ़ी के इतिहासकार भी करते हैं: *मान गाँधी के बचनवा दुखवा हो जईहे सपनवा/ तन पे उतार कपड़ा विदेशी, खदर के कइल धरनवा।*

अर्थात्, गाँधी का लोक समाज पर प्रभाव इतना गहरा है कि लोगों को लगता है कि खदर और चरखा के ज़रिये गाँधी ब्रितानिआ सरकार की अर्थव्यवस्था की चूलें हिला देंगे और अँगरेज़ भारत छोड़कर भाग जायेंगे। यह आर्थिक राष्ट्रवाद का वह रूप है जो जन समाज के बीच एक मिथ की तरह निर्मित होता है। मिथ, गाँधी का मिथ! यह मिथ इतना जबरदस्त है कि कई बार ग्रामीण जन को लगता है कि 'अब गाँधी का राज्य आ गया है। गाँधी को माननेवाले बाबा रामचंद्र का राज आ गया है। उनके राज में हमारी लगान कम हो जाएगी और हम सब खूब मज़ा उड़ायेंगे: *बाबा रामचंद्र के राजवा/ परजा मज़ा उड़ावे न।* कुछ ऐसा ही भाव उत्तर-पूर्वी भारत के कबुई क्रांति से जुड़े जादोनांग कच्चा नागा द्वारा गाँधी के 1927 में सिल्चर आने के प्रसंग में निम्न लोक गीत में भी दिखलाई देता है: *हे महात्मा गाँधी! हमारे राजा बन जाइए/ आइए जी आइए!*

स्पष्टतः लोक-काव्य की उपर्युक्त पंक्तियाँ भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में गाँधी की उस मौजूदगी की तरफ संकेत करती हैं जिसका उल्लेख शाहिद अमीन और जानेंद्र पांडेय जैसे इतिहासकार करते हैं। प्रसिद्ध हिन्दी कथाकार भीष्म साहनी ने भी लिखा है कि “*गांधी जी के स्वाधीनता संग्राम की सारी परिकल्पना ही नई और अनूठी थी। उनका विश्वास शस्त्रास्त्रों में नहीं था। वह अहिंसात्मक ढंग से लड़ाई लड़ने के हक में थे। .. गांधी जी का विश्वास आत्मबल में था- एक ओर जहां वे ब्रिटिश सरकार के कानून भी नहीं मानना चाहते थे और उनका डटकर विरोध करते थे, दूसरी ओर वे किसी प्रकार कि हिंसा का प्रयोग भी नहीं करना चाहते थे।*”

-यह एक परिप्रेक्ष्य है, गांधी का जो उनके अंदर, सपनों का एक अलग भारत निर्मित करता है। कहना न होगा कि इन बातों का गहरा असर लोगों पर दिखलाई पड़ता है। पूरे देश में

किसानों के आंदोलन तेज होते हैं और धीरे-धीरे भारतीय बौद्धिक जगत और आम जनता को 1918 से 1942 के अंग्रेजी राज के खिलाफ सत्याग्रह, अहिंसा, स्वराज, चरखा, समाजवाद, उग्र राष्ट्रवाद आदि और अंत में 1942 में **करो या मरो** जैसे आन्दोलनकारी शब्द मिलते हैं। इस बीच साहित्य से लेकर राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में गांधी और अंबेडकर सहित भगत सिंह, जिन्ना, पेरियार, सुभाषचंद्र बोस आदि जिस भारत की परिकल्पना लेकर स्वाधीनता आंदोलन में आते हैं, वह एक नया राष्ट्रवादी भारत है और यह राष्ट्रवादी भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद सहित, पारंपरिक भारतीय समाज की जड़ स्थापनाओं की भी चूले हिलाना शुरू कर देता है। खासकर, महात्मा गाँधी को लेकर राष्ट्रवादी और प्रगतिशील इतिहासकारों का मानना है कि गाँधी सिर्फ पढ़ी-लिखी, मध्यवर्गीय जनता और साधन सम्पन्न भारतीय जनता का ही स्वाधीनता आंदोलन में नेतृत्व नहीं करते हैं, बल्कि गाँव की कृषक जनता का भी अहिंसक नेतृत्व भी करते हैं तथा राष्ट्रीय आंदोलन में उन्हें भागीदार बनाते हैं। यद्यपि इस बीच स्वाधीनता आंदोलन बाबा साहब अंबेडकर, भगत सिंह, सुभाषचंद्र बोस आदि एक बड़ी भूमिका निभाते हैं; पर, सन '42 का आंदोलन भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में प्रतिरोध की एक नई चेतना लेकर आता है।

### 1942, भारत छोड़ो आंदोलन, क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का मुक्ति संदर्भ

यह एक बड़ा सवाल है कि आखिर 1942 में आकर महात्मा गांधी के साथ ऐसा क्या हो जाता है कि वे इतने हिंसक हो उठते हैं और उन्हें *करो, मरो* का नारा देना पड़ता है? प्रसिद्ध इतिहासकार शाहिद अमीन चौरी चौरा पर केंद्रित लेख *स्मृति और इतिहास: चौरी चौरा, 1922-1992* में संकेत करते हैं कि कई बार आम जनता या किसान गांधी को एक ऐसे सेनानी के रूप में देखना चाहते थे जो सिर्फ समन्वयवादी ही नहीं हो, बल्कि समय आने पर हथियार भी उठाये, सामने खड़े शत्रुओं से दो-दो हाथ भी करें। कुछ लोक कविताओं में ऐसे संकेत मिलते भी हैं। देखें, *ख्वाब झाड़वर ने जो देखा वह मैं करता जाहिर/एक बयाबान में कुछ गुजर रहा है गरद-ओ-गुबार/आ रही फ़ौज है उस सिमट से दस बीस हजार/और है गांधीजी फ़ौज में आला सरदार/और सोराज्य का इस हाथ में है अलम/सरे दुश्मन को वह करते चले आते हैं कलम../हर एक अंग्रेज के जब कान में पहुंची ये सदा/जैसा सोचा किया वह नंग धड़ंग भागा../*

(काशगंज का ख्वाब, 1921; ज़ब्त किए हुए उर्दू पंफलेट्स, नंबर 141, इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन)

-उपर्युक्त पंक्तियों में जनकवि की यह आकांक्षा कि गांधी ने दस-बीस हजार की फ़ौज के एक ऐसे आला सरदार के रूप में अंग्रेजों पर धावा बोल दिया है, जन राष्ट्रवाद का एक अलग रूप रचता है। गांधी का एक ऐसा रूप जो स्वराज्य के लिए एकदम हिंसक हो गया है और अंग्रेजों के सर को कलम करते हुए देशी फ़ौज के साथ कत्लेआम मचाते अंग्रेजों पर धावा बोलते आ रहे हैं। यह खबर सुनते ही अंग्रेजों की फ़ौज में खलबली मच गई है तथा जो जिस अवस्था में है, उसी में नंग-धड़ंग भाग रहा है। गांधी के बारे में ऐसी कल्पना कम ही दिखती है, पर जनता की यह आकांक्षा कि गांधी भी हिंसक हो सकते हैं, अद्भुत और अकल्पनीय है और उनकी छवि एक योद्धा के रूप में प्रस्तुत करती है।

यह एक विचारणीय सवाल है कि आखिर क्यों गांधी अपने स्वाधीनता आंदोलन के प्रारम्भिक चरण में समन्वयवादी दिखलाई पड़ते हैं जो 1930 तक आते-आते राष्ट्र-राज्य की शक्तियों से संवाद करते एवं टकराते हुए थोड़ा-थोड़ा राजनीतिक हो जाते हैं और दूसरे विश्वयुद्ध तक आते-आते हिंसक। वे महसूस करने लगते हैं कि बिना कठोर हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद उनकी बात सुननेवाला नहीं है। भारतीय जनता के अंदर राष्ट्रवाद की जो उग्र चेतना आम जनता में दिखलाई देती है, उसे भी थोड़ा ‘स्पेस’ (जगह) देने की जरूरत है। शायद इसीलिए प्रसिद्ध इतिहासकार ज्ञानेन्द्र पांडेय गांधी के बारे में निम्न शब्दों का उपयोग करते हैं: “..उन्होंने सत्ता के स्थापित ढाँचें को चुनौती दी और शक्ति के वैकल्पिक केंद्र कायम किए।”

खास बात यह है कि इसका असर जनता पर भी दिखलाई पड़ना शुरू हो जाता है। जैसा कि बलिया में चित्तू पांडेय ने किया। हजारों की भीड़ के साथ कॉलेक्टाइरियेट को घेर लिया और तीन दिनों तक बलिया को अंग्रेजी हुकूमत से मुक्त रखा। यह आम जन द्वारा किया गया एक अकल्पनीय साहस भरा कदम था जिसके बारे में इतिहासकारों ने खूब लिखा है। साहित्य में भी इसकी गहरी उपस्थिति दिखलाई देती है। देखें, प्रसिद्ध कवि प्रसिद्ध नारायण सिंह की कृति *बलिया बलिहार* कि निम्नलिखित पंक्तियाँ: *आइल अगस्त के आंदोलन, फरके लागल सबके तन-मन/ बिजुली दौड़ल जागल बलिया, चलले मुस्लिम, हिन्दू, हरिजन/ मची गइल लड़ाई बस*

*जुझार/ या ग्रामीण जनों पर जो अत्याचार होता है, वह गांधी को थोड़े समय के लिए हिंसक होने के लिए बाध्य कर देता है ? देखें, गांवन पर दगलीन मशीनगन, बेंतन सन मरलन बीन-बीन/ बैठाई डाल पर नीचे से, जालिम भोंकलन खच-खच संगीन,/ बहि चलल खून के तेज धार/*

खास बात है कि इन परिघटनाओं पर आज भी लोक में जो स्मृतियाँ हैं, वह अद्भुत हैं। बलिया क्षेत्र के लोग, खासकर जैनेन्द्र पांडेय (मींटू जी), आशीष पांडेय, अनिल पाठक, इलह रहमानी, उमाशंकर आदि बताते हैं कि बलिया आज भी चित्तू पांडेय को भूला नहीं है कि किस प्रकार गांधी के एक नारे पर पूरा क्षेत्र कॉलेक्टाइरियेट पर उमड़ पड़ा था। इसे एक आख्यान भी कह सकते हैं और एक ठोस राजनीतिक पहल भी; जो आजादी के संघर्ष को महत्वपूर्ण बना देती है। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि इन संदर्भों को लेकर हिन्दी और लोक साहित्य में जो रचनाएं लिखी गईं, वे इस बात की तरफ संकेत करती हैं कि यह आम जनता द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ किया गया एक बड़ा प्रतिरोध था जिसे स्वतः स्फूर्त चरम या उग्र राष्ट्रवाद भी कहा जा सकता है। इस उग्र राष्ट्रवाद में भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद और सुभाषचंद्र बोस की तरह आगे बढ़कर चुनौती देने और सत्ता को छीनने की चेष्टा दिखलाई पड़ती है और इसीलिए कई बार जो टिप्पणीकार गांधी के अहिंसक छवि की आलोचना और हिंसक क्रांति की समीक्षा करते हैं, उन्हें गांधी के इस पक्ष पर भी पुनर्विचार कर लेना चाहिए।

वास्तव में 1857 से 1947 के बीच भारतीय राष्ट्रवाद का जो रूप दिखलाई पड़ता है, वह आम जनता के उस राष्ट्रवाद की तरफ संकेत करता है जिसके केंद्र में राष्ट्र-मुक्ति के अलावा और कुछ नहीं है। इस राष्ट्र-मुक्ति का पूरा आधार जनता के व्यापक हित को लेकर निर्मित हुआ है तथा जिसके केंद्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक न्याय के साथ ही राष्ट्र का विकास एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। हिन्दी साहित्य अथवा लोक स्मृतियों में दर्ज रचनाएं भी राजनीतिक मुक्ति की बातें सबसे अधिक करती हैं तथा उसके समानांतर सामाजिक मुक्ति के प्रश्न को तलखी के साथ उठाती हैं जिसमें स्त्री तथा दलित मुक्ति का सवाल एक बड़े सवाल के रूप में आता है। यद्यपि भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान राष्ट्रवाद की जो छवियाँ निर्मित होती हैं, उसपर इतिहासकारों से लेकर अनेक क्षेत्र के बुद्धिजीवियों ने गहन विचार-विमर्श किया है तथा इसी कारण भारतीय इतिहास का यह दौर भारतीय राष्ट्र की एक

बुनियाद के रूप में देखा जाता है तथा जिसके ऊपर 1947 के बाद का भारत खड़ा है। यह भारत उतना ही लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष है जितना कि दुनिया के पटल पर होना चाहिए तथा जिसकी सामूहिक चेतन भारतीय ज्ञान और चिंतन की परंपरा पर केंद्रित है। यह एक महत्वपूर्ण बात है जो आज आजादी के पचहतरवें वर्ष में वैश्विक पटल पर नए तरीके से चिंतन की मांग करती है।

संदर्भ:

1. P. C. Joshi, ed.: 2007; *Rebellion 1857*; National Book Trust, India, Delhi.
2. रश्मि चौधरी; 2012; *भारतीय राष्ट्रवाद का निम्नवर्गीय प्रसंग*; प्रकाशन संस्थान, दिल्ली।
3. देवेन्द्र चौबे, बद्रीनारायण और हितेन्द्र पटेल, सं.; 2008; *1857: भारत का पहला मुक्ति संघर्ष*; प्रकाशन संस्थान, दिल्ली।
4. शाहिद अमीन और ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, सं.; 1995 & 2002; *निम्नवर्गीय प्रसंग*, भाग एक और दो; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
5. S. N. R. Rizvi; 2021; *The Rebel World of 1857*; Kalpaz Publication, Delhi.
6. बद्रीनारायण, रश्मि चौधरी और संजय नाथ, सं.; 2010; *1857 का महासंग्राम*; आधार प्रकाशन, दिल्ली।
7. रश्मि चौधरी और देवेन्द्र चौबे; 2016; *आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के कुछ साहित्यिक स्रोत*; गणपत तेली, देविना अक्षयवर और खुशी पटनायक, सं.; प्रकाशन संस्थान, दिल्ली।
8. जगमाल सिंह; 2020; *पूर्वोत्तर की जनजातीय क्रांतियां*; राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत; दिल्ली।